R.N.I. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

मूल्य-4 रुपये, वर्ष-19, अङ्क-5 मई 2019 1

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ०प्र०) का
मासिक मुख समाचार पत्र

मङ्गलायतन

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा संचालित
भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के
दीक्षा प्राप्त मङ्गलार्थी छात्र

नवीन प्रवेश प्राप्त मङ्गलार्थी छात्र

मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ (उ.प्र.) का

मासिक मुखपत्र

वर्ष-19, अङ्क-5 (वी.नि.सं. 2545; वि.सं. 2075) मई 2019

आनन्द अवसर आयो...

आनन्द अवसर आयो, मुनिवर दर्शन पायो,
परम दिगम्बर सन्त पधारे, जीवन धन्य बनायो-बनायो ।टेक ॥

पुण्य उदय है आज हमारे, आदीश्वर मुनिराज पधारे;
श्री मुनिवर के दर्शन करके, शुद्ध हुए हैं भाव हमारे।
जीवन सफल बनायो... बनायो ॥1 ॥

श्रेयांस राजा हर्षित भारी, आहार दान की है तैयारी;
निराहार चेतन राजा के, अनुभव से है आनन्द भारी।
मुनिवर को पड़गाह्यो... पड़गाह्यो ॥2 ॥

हे स्वामी तुम यहाँ विराजो, उच्चासन पर आप विराजो;
मन-वच-तन आहारशुद्ध है, भाव हमारे अति विशुद्ध हैं।
अपने चरण बढ़ाओ... बढ़ाओ ॥3 ॥

दोष छियालिस मुनिवर टालें, अन्तराय बत्तीसों टालें;
दोषरहित निज के अनुभव से, चतुरगति का भ्रमण निवारें।
तप को निमित्त बनायो... बनायो ॥4 ॥

मुनिवर अब आहार करेंगे, निज चैतन्य विहार करेंगे;
क्षायिक श्रेणी आरोहण कर, मुक्तिपुरी का राज वरेंगे।
निज में निज को रमायो...रमायो ॥5 ॥

साभार : मङ्गल भक्ति सुमन

संस्थापक सम्पादक
स्व. पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़
मुख्य सलाहकार
श्री बिजेन्द्रकुमार जैन, अलीगढ़
सम्पादक
डॉ. सचिन्द्र शास्त्री, मङ्गलायतन
सह सम्पादक
पण्डित सुधीर जैन शास्त्री, मङ्गलायतन
सम्पादक मण्डल
ब्रह्मचारी पण्डित ब्रजलाल शाह, वढ़वाण
बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़
डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर
श्रीमती बीना जैन, देहरादून
सम्पादकीय सलाहकार
पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर
पण्डित विमलदादा झाँझरी, उज्जैन
श्री चिरंजीलाल जैन, भावनगर
श्री प्रवीणचन्द्र पी. वोरा, देवलाली
श्री वसन्तभाई एम. दोशी, मुम्बई
श्री श्रेयस् पी. राजा, नैरोबी
श्री विजेन वी. शाह, लन्दन
मार्गदर्शन
डॉ. किरीटभाई गोसलिया, अमेरिका
पण्डित अशोक लुहाड़िया, अलीगढ़

इस अङ्क के प्रकाशन में सहयोग-
श्रीमती प्रज्ञा जैन,
कल्याणी जैन,
हस्ते श्री अजित जैन,
बड़ोदरा (गुजरात)।

क्या - कहाँ

मुनिभक्त गुरुदेवश्री 5
आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (2) 6
संसारतत्त्व 12
प्रथम प्रवचन 18
ऋषभमुनि का हस्तिनापुर 23
भगवान आचार्यदेव
श्री शान्त अथवा शान्तिषेण 28
श्री जिनसेनस्वामी (प्रथम) 28
उपदेश सिद्धांत रत्नमाला 31
समाचार-सार 33

शुल्क :
वार्षिक : 50.00 रुपये
एक प्रति : 04.00 रुपये

मुनिभक्त गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

'सर्व मुनियों के चरणों में नमस्कार हो!'

यहाँ तो भगवान की दीक्षा की स्थापना है, परन्तु ऐसे प्रसंग के समय स्वयं अन्तर में ऐसी भावना होती है कि '**मेरी ऐसी परम वीतरागी निर्ग्रन्थ दशा कब होगी ? मैं मुनि होकर आत्मध्यान में लीन कब होऊँगा ? मैं इन वीतरागी सन्तों की पंक्ति में कब बैठूँगा ?**'

अहो! मुनिदशा कैसी होती है? इसका भी लोगों को भान नहीं है। गणधरदेव भी जब नमस्कार-मन्त्र बोलते हैं, **तब 'णमो लोए सव्वसाहूणं'— इस पद के द्वारा, उनका (गणधर भगवान का) नमस्कार सब मुनियों के चरणों में पहुँचता है तो यह मुनिदशा कैसी होगी ? तीन लोक के नाथ भगवान महावीर, सीमन्धर आदि अनन्त तीर्थंकरों के धर्मवजीर, ऐसे गणधर जब शुभराग के समय नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब उसमें साधु के चरणों में भी नमस्कार आ जाता है। अहा! गणधरदेव भी जिसे नमस्कार करें, वह पद कैसा होगा ?**

गणधरों में दो घड़ी में द्वादशांग की रचना करने की ताकत है, ऐसी सामर्थ्य भले अन्य मुनिवरों में न हो तो भी जिन्होंने मात्र दो घड़ी पहले आठ वर्ष की उम्र में साधु होकर आत्मा में लीनतारूप चारित्रदशा प्रगट की है—ऐसे मुनिवरों को भी गणधरदेव का नमस्कार हो जाता है। आठ वर्ष का राजकुमार अभी-अभी मुनि हुआ हो और गणधर लाखों वर्ष पहले मुनि हुए हों, तो भी वे कहते हैं—'**सर्व सन्त मुनियों के चरणों में नमस्कार हो।**' इसमें आठ वर्ष की उम्र में साधु होनेवाले राजकुमार भी आ जाते हैं। **गणधरदेव कहते हैं कि जिसमें हमारा नमस्कार झेलने की ताकत हो—ऐसे सन्तों को हम साधु कहते हैं—ऐसे सन्तों का चारित्र आनन्दमय है—ऐसे सन्त दु:खी नहीं हैं।**

बाह्य प्रतिकूल संयोग होने पर भी सन्तों को दु:ख नहीं होता, क्योंकि चैतन्यमूर्ति आत्मा अस्पर्श स्वभावी है; वह परसंयोगों को स्पर्श नहीं करता; अत: उसे संयोगों का दु:ख नहीं है। **धर्मात्मा को अन्तर स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के परम आनन्द का स्पर्श हुआ है, आनन्द का अनुभव हुआ है और फिर विशेष लीनता होने पर वीतरागी चारित्रदशा प्रगटी है, उसमें परम-आनन्द की लहरें बढ़ गई हैं।**

शेष पृष्ठ 17 पर

आत्मार्थी का पहला कर्त्तव्य (2)

चैतन्यभगवान के दर्शन करने का आँगन कैसा होता है?

(वीर सं. 2476भाद्रपद शुक्ला 13 रविवार)

निश्चय अर्थात् सच्चा सम्यक्त्व किसे कहना ? – वह सम्यक्त्व अनंत काल से संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीवों ने कभी एक क्षणमात्र भी प्राप्त नहीं किया है। वह सम्यग्दर्शन कैसे हो – उसका उपाय यहाँ कहा जाता है। आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसको यथार्थ समझकर अंतर में उसका मंथन करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है और वह प्रथम धर्म है।

शरीरादि परवस्तु मैं हूँ और जो विकार है, वह मैं हूँ – ऐसा मानकर जीव अपने ध्रुव चैतन्य स्वभाव से च्युत हो जाता है, उसे भगवान मिथ्यात्व अर्थात् अधर्म कहते हैं। वह विपरीत मान्यता हटाकर ध्रुव चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रतीति करना, सो सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन तो कार्य है, उसका क्या उपाय है ? स्वभाव के ओर की रुचि करके उसका अंतरविचार करना, वह सम्यग्दर्शन का उपाय है। शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि और लक्ष है, वही सम्यग्दर्शन का निश्चय उपाय है।

श्री सर्वज्ञदेव कहते हैं कि – हम ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं। अंतरमुखस्वभाव का विश्वास करके एकाग्रता होने से हमारी पूर्ण शुद्धि रागरहित केवलज्ञानदशा प्रगट हुई है। तू भी हमारा जैसा ही आत्मा है और तुझमें भी हमारे जितना ही परिपूर्ण सामर्थ्य है। हमारी अवस्था में से रागादि दूर हो गये हैं, क्योंकि वह हमारा स्वरूप नहीं था, तो तेरी अवस्था में जो मिथ्यात्व-रागादि है, वह तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो विकाररहित ध्रुव चैतन्यस्वरूप है, इसप्रकार अपने परमार्थस्वभाव का अनुमान करके उसकी रुचि कर! वही सम्यग्दर्शन का उपाय है। शरीर-मन-वाणी आदि तो जड़ हैं, अजीव हैं, वे आत्मा से पृथक् हैं – ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है और क्रोधादि विकारीभाव भी नवीन-नवीन करे तो होते हैं, न करे तो नहीं होते – ऐसा अनुभव में आता है। पहले काम-क्रोधादि की तीव्र विकार वासना हुई, उसका वर्तमान ज्ञान में विचार करने से उसका ज्ञान होता है,

लेकिन वह वर्तमान में प्रगट नहीं होती, इसलिए वह विकारी वासना आत्मा का यथार्थस्वरूप नहीं है, किन्तु ज्ञान ही आत्मा का सच्चा स्वरूप है। इसप्रकार अनुमान द्वारा आत्मा के स्वभाव को लक्ष्य में लेकर निश्चित् (निर्णय) करना, वह सम्यग्दर्शन का कारण है।

किसी को तीव्र क्रोधावेश में खून करने की वृत्ति उठी और दो-चार खून कर डाले; लेकिन जब वह वृत्ति शांत हो गई, तब उस खून का इकरार करता है; उससमय, पहले खून करने में जो क्रोध का वेग था, वह वर्तमान में नहीं आता; क्योंकि वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है। यह तीव्र विकार की बात की। उसीप्रकार दूसरे जो पुण्य-पाप के विचार आयें, वे दूसरे ही क्षण हट जाते हैं, इसलिए मेरा स्वरूप नहीं है; विकार का ज्ञान करनेवाला मैं स्वयं विकाररहित ज्ञानस्वरूप हूँ, इसप्रकार पहले अनुमान करना चाहिए। वह अनुमान भी यथार्थ है, उसमें गलती नहीं होती। ऐसा जो स्वभाव का अनुमान किया, वह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

अहो ! अनंतकाल में चैतन्य का शरण कौन है, उसका जीव ने कभी विचार नहीं किया। बाह्य में कोई पदार्थ आत्मा को शरणरूप नहीं है। शरीर भी शरणरूप नहीं है। चैतन्यतत्त्व की अंतरशरण को चूककर बाह्य में शरण मानी, वह मरते समय अशरणरूप से मरता है। ध्रुव चैतन्य स्वरूप को जाने बिना किसकी शरण लेकर शांति रखे ? अरे भाई ! क्या ऐसा ही स्वरूप होगा ? क्या कोई शरणरूप वस्तु नहीं होगी ? अंतर में चैतन्यतत्त्व शरणभूत है, उसका लक्ष कर !

जिसे अपूर्व धर्म करना है, वह जीव, कुदेवादि की मान्यता छोड़कर, प्रथम तो, ज्ञान में आत्म -स्वभाव का यथावत् विकल्पसहित निर्णय करता है, पश्चात् अंतरस्वभावोन्मुख होने से निर्विकल्प अनुभव प्रगट होने पर विशेष दृढ निर्णय होकर सम्यक् प्रतीति प्रगट होती है। इसमें अंतर में आत्मा के विचार की जो क्रिया है, उसका माहात्म्य ज्ञानी को नहीं आता। प्रथम नवतत्त्व के रागमिश्रित विकार बिना सीधा एक आत्मा के अनुभव में नहीं आया जा सकता और एक अभेद आत्मा के अनुभव में वे नवतत्त्व के विकल्प आश्रयरूप नहीं हैं। वर्तमान ज्ञान की दशा अखण्ड चैतन्य की ओर उन्मुख होकर आत्मस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा होना वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व नवतत्त्व का ज्ञान कैसा होना चाहिए - उसकी बात करते हैं।

मैं जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं; दया, दान, व्रत आदि के भाव पुण्य हैं; पुण्य, जीव नहीं है और जीव, पुण्य नहीं है; अजीव से जीव पृथक् है। – इसप्रकार नवतत्त्व अभूतार्थनय से हैं, उन्हें जैसे हैं, वैसा जानना चाहिए। – यह भी शुभभाव है, कहीं धर्म नहीं है। धर्म तो अंतर में भेद का लक्ष्य छोड़कर एकरूप परमार्थस्वभाव के अनुभव से होता है; किन्तु उससे पूर्व उपरोक्तानुसार नवतत्त्व के विचाररूप शुभभाव की प्रवृत्ति आये बिना नहीं रहती।

अहो ! जीव ने कभी अपने आत्मा की दरकार नहीं की। जिसप्रकार बैल और गधे सारा जीवन बोझ ढोते-ढोते व्यतीत करते हैं, उसीप्रकार अनेक जीव यह मनुष्य भव प्राप्त करके भी व्यापार-धंधे में या नौकरी-चाकरी करके जीवन व्यतीत करते हैं। पर का तो कोई कुछ कर ही नहीं सकता, व्यर्थ का अभिमान करते हैं; किन्तु आत्मा कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? उसका कभी अंतर में विचार नहीं करता। मैं तो जीवतत्त्व त्रिकाल ज्ञानस्वरूप हूँ और शरीरादि अजीव तत्त्व हैं। दोनों तत्त्व भिन्न हैं। बाह्य में पैसा आदि वस्तुओं को लेने-देने की या रसोई आदि की क्रिया जड़ की है, वह मैं नहीं कर सकता। मैं तो ज्ञाता तत्त्व हूँ। जीव और अजीव सदैव भिन्न हैं। इसप्रकार नवतत्त्व का यथार्थ विचार करना भी अभी व्यवहारसम्यक्त्व है और नवतत्त्व के भेद के विकल्प से रहित, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके अनुभव करना सो परमार्थ सम्यग्दर्शन है। श्रेणिक राजा को ऐसा सम्यक्त्व था; उसके फल में संसार का नाश करके एक भव में मुक्ति प्राप्त करेगे। आनेवाली चौबीसी में वे प्रथम तीर्थंकर होंगे। उनके व्रतादि नहीं थे, किन्तु यहाँ कहा जा रहा है – वैसा आत्मा का भान था – सम्यग्दर्शन था, इससे वे एकावतारी हुए।

तीर्थ का अर्थ है तरने का उपाय; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तरने का उपाय है और उसकी प्रवृत्ति में नवतत्त्व की श्रद्धा निमित्तरूप है। वह व्यवहारश्रद्धा कहीं मूल स्वरूप नहीं है, वह स्वयं तीर्थ या मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु वह व्यवहारश्रद्धा परमार्थ में जाते हुए बीच में आये बिना नहीं रहती। कोई ईश्वर इस जगत का कर्ता है अथवा तो सब मिलकर एक ब्रह्मस्वरूप ही है आदि कहनेवाले कुतत्त्वों की श्रद्धा से छूटकर, श्री सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नवतत्त्वों की श्रद्धा करना, वह

व्यवहारश्रद्धा है, उसमें राग परिणाम है और उस रागरहित होकर अभेद आत्मा की प्रतीति करना, सो परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वह धर्म है।

प्रश्न – ऐसी प्रतीति मरते समय करें तो ?

उत्तर – भाई ! इसी समय तू आत्मा के भान बिना प्रतिक्षण भावमरण में मर ही रहा है; इसलिए उस भावमरण से बचने के लिए आत्मस्वभाव को पहिचान। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि–

क्षण–क्षण भयंकर भावमरणे
कां अहो ! राची रह्यो ?

मैं पर का करता हूँ और विकार से लाभ होता है – ऐसा मानकर, उस विपरीत मान्यता से तेरा आत्मा प्रतिक्षण भावमरण से मर रहा है। उस मरण से बचकर यदि तुझे आत्मा का जीवन प्राप्त करना हो तो चैतन्य आत्मा की प्रतीति कर ! चैतन्य की प्रतीति के बिना चैतन्य–जीवन नहीं जिया जाता और न भावमरण से बचा जा सकता है।

व्यवहारसम्यक्त्व में भेद से नवतत्त्व की श्रद्धा है और अभेद परमार्थसम्यक्त्व में तो एकरूप अभेद आत्मा की ही प्रसिद्धि है। 'आत्मख्याति' निश्चयसम्यक्त्व का लक्षण है।

हे भाई ! तुझे भगवान के निकट आना है या नहीं ? तुझे चैतन्य भगवान के साक्षात् दर्शन करना है ? तो प्रथम तुझे व्यवहारश्रद्धा साफ करना पड़ेगी। चैतन्य भगवान के दर्शन करने में पहले द्वारपालरूप में व्यवहारश्रद्धा आती है। किन्तु यदि उस द्वारपाल के पास ही रुक जायेगा तो तुझे चैतन्यभगवान के दर्शन नहीं होंगे। प्रथम नवतत्त्व को बराबर जानकर एक अभेद आत्मा के स्वभाव की ओर अंतरोन्मुखता करके प्रतीति करने से चैतन्यप्रभु के दर्शन होते हैं, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन द्वारा इस चैतन्यभगवान के दर्शन करने से तेरे भाव का अन्त आ जायेगा। चैतन्यभगवान के दर्शन बिना भव का अन्त नहीं आयेगा।

नवतत्त्व के ज्ञान में भी जो गड़बड़ करता है, वह तो अभी चैतन्यभगवान के आंगन में भी नहीं आया है; उसे चैतन्यभगवान के दर्शन नहीं होते। प्रथम रागमिश्रित विचार से जीव, अजीव को भिन्न–भिन्न मानना, वह चैतन्यभगवान

का आंगन है और अभेदस्वरूप के रागरहित अनुभव सहित प्रतीति करना, वह चैतन्यभगवान के साक्षात् दर्शन हैं, निश्चयसम्यग्दर्शन है।

नवतत्त्वों में तीसरा पुण्यतत्त्व है; वह पुण्यतत्त्व को जीव को शरणभूत नहीं है। जीवतत्त्व नित्य ध्रुवरूप है और पुण्यतत्त्व क्षणिक विकार है; पुण्य के आधार से जीवतत्त्व नहीं है। जीवतत्त्व और पुण्यतत्त्व पृथक्-पृथक् हैं। त्रिकाली जीवतत्त्व, पुण्य का कारण नहीं है। यदि त्रिकाली तत्त्व, पुण्य का कारण हो तो पुण्य कभी दूर न हो। पुण्यतत्त्व स्वयं जीव नहीं है और जीवतत्त्व, पुण्य नहीं है। इसप्रकार दोनों तत्त्वों का भिन्न-भिन्न स्वरूप समझना चाहिए।

चैतन्यदेव का सम्यग्दर्शन करने के लिए पहले वरदान के रूप में-निमित्तरूप में-व्यवहाररूप में नवतत्त्व की श्रद्धा होती है; तथापि परमार्थ सम्यग्दर्शन तो एक अभेदतत्त्व की श्रद्धा से ही होता है।

पुण्यभाव त्रिकाली आत्मा नहीं है। पुण्यभाव से आत्मा प्रगट होता है - ऐसा माना जाये तो जीव और पुण्यतत्त्व पृथक् नहीं रहते। और त्रिकाली जीवतत्त्व को पुण्य का कारण मानें तो भी जीव और पुण्यतत्त्व पृथक् नहीं रहते। दया, पूजा, भक्ति, दान, ब्रह्मचर्यादि शुभपरिणाम हैं, वह पुण्यतत्त्व है। यदि वह आत्मा हो तो आत्मा से उसकी भिन्नता निश्चित नहीं हो सकती और नवतत्त्व भी नहीं रहेंगे। जीव में जीव है और पुण्य में पुण्य है; जीव में पुण्य नहीं है, पुण्य में जीव नहीं है.....इसप्रकार प्रत्येक तत्त्व का अपना भिन्न-भिन्न लक्षण है। ऐसे नवतत्त्वों को निश्चित करना, वह तो व्यवहारसम्यक्त्व है।

पुण्यतत्त्व आत्मा नहीं है और पुण्यतत्त्व, पाप भी नहीं है। दया, दान, पूजा, भक्ति आदि के भाव, वह पुण्यतत्त्व हैं, वे कहीं पाप नहीं हैं। तथापि उन दया, पूजादि के भावों को पाप मनाये तो उसे भी नवतत्त्वों की व्यवहारश्रद्धा नहीं है। अंतरस्वभाव को निश्चित करते हुए बीच में नवतत्त्व की श्रद्धा का विकल्प आये बिना नहीं रहता।

'धर्म से धन मिलता है और धन से धर्म होता है' - ऐसा अज्ञानी मानते-मनाते हैं, उन्हें जीव-अजीवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। धर्म का संबंध धन के साथ नहीं है, किन्तु चैतन्य के साथ है। धन तो अजीवतत्त्व है, क्या उस अजीव से जीव

को धर्म हो सकता है ? धन से धर्म तो नहीं होता, किन्तु पुण्य भी नहीं होता। धन जड़तत्त्व है और पुण्य तो जीव का मंदकषायभाव है, वे दोनों भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी जो पैसे से धर्म या पुण्य-पाप माने, उसकी व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है। श्री आचार्यदेव तो आत्मा को परमार्थश्रद्धा कराना चाहते हैं। नवतत्त्वों को जैसे हैं, वैसा विकल्प से माने, किन्तु नव भेदरहित एक परमार्थ आत्मा को श्रद्धा का विषय न बनाये तो वह भी मिथ्यात्वी है।

जिनमंदिर में भगवान के निकट हाथ जोड़ने की क्रिया हो, शरीर झुके या भाषा बोली जाये - वह जड़ की क्रिया है, उस क्रिया के कारण पुण्य नहीं है और पुण्य से धर्म नहीं है। शुभभाव से पुण्य है और अंतर में परमार्थस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से धर्म है। जैन कहलाये और साधु नाम का धारी हो, लेकिन अभी नवतत्त्व के भावों की खबर न हो, उसे वास्तव में जैन नहीं कहा जाता।

पुण्य और पाप - वह वर्तमान क्षणिक विकारी दशा है और जीव तो त्रिकाली तत्त्व है। जड़ से पुण्य-पाप नहीं है और त्रिकाली जीवतत्त्व भी पुण्य-पाप का कारण नहीं है। यदि त्रिकाली जीवतत्त्व में पुण्य-पाप हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकता। इसप्रकार जीवतत्त्व में पुण्य नहीं है और अजीवतत्त्व में भी पुण्य नहीं है। पुण्य तो क्षणिक विकारी दशा है। यह सब शुद्धनय का नहीं, किंतु अभूतार्थनय का विषय है। ऐसी नवतत्त्व की श्रद्धा, सो व्यवहारसम्यक्त्व है। धर्म के आंगन में आने से व्यवहार श्रद्धा में भी इतनी स्वीकृति आ जातीी है। पश्चात् एक शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव करने में सम्यक् प्रतीतिरूप धर्म प्रगट होता है।

चौथा पापतत्त्व है, जगत तो पर जीव के मरने से या शरीरादि जड़ की क्रिया से पाप मानता है, लेकिन वास्तव में वह पाप नहीं है, किन्तु जीव का कलुषित भाव ही पाप है। अजीव में पाप नहीं है, पाप तो जीव की क्षणिक विकारी दशा है। जीव की अवस्था को छोड़कर पापतत्त्व बाह्य में कहीं भी नहीं रहता है। पुण्य, पाप आदि तत्त्व क्षणिक अवस्था में हैं, इससे यह नवतत्त्व वर्तमान अवस्था दृष्टि से देखने पर विद्यमान हैं - उन्हें जानना चाहिए। कुदेवादि को मानता हो और कुव्यवहार में भटकता हो, उससे छूटने के लिए और सच्चे व्यवहार में आने के

शेष पृष्ठ 22 पर

श्री प्रवचनसार गाथा 271 पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी का प्रवचन

संसारतत्त्व

गतांक से आगे

संसार क्या है और वह कहाँ रहता होगा ? – उसका वर्णन श्री आचार्यदेव ने इस गाथा में किया है। संसार आत्मा की क्षणिक विकारी दशा है। नवतत्त्वों में से पुण्य-पाप, आस्रव और बंध – यह चार तत्त्व, बंधतत्त्व में आ जाते हैं। अजीवतत्त्व में संसार नहीं है और शुद्ध जीवतत्त्व में भी संसार नहीं है। संसार कहने से विकार का सूचन होता है। स्वरूप में से संसरित हुआ अर्थात् स्वरूप से च्युत हुआ, वह संसार है। आत्मा का संसार पर में-अजीव नहीं है, और ध्रुव ज्ञानस्वभाव में भी संसार नहीं है तथा आत्मस्वभाव का भान होने से जो संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व प्रगट होते हैं, उनमें भी संसार नहीं है, क्योंकि वह तो निर्मल धर्मदशा है। संसार का अर्थ है अधर्मदशा, विकारदशा। वह जड़ में नहीं है और आत्मा के स्वभाव में भी नहीं है। यदि स्वभाव में संसार हो तो वह दूर नहीं हो सकता और यदि जड़ में हो तो आत्मा उसे दूर नहीं कर सकता, और न उसका फल आत्मा में हो। आत्मा की एक समयपर्यंत की पर्याय में जो विकार और अधर्मदशा है, वही संसार है, यदि उसे जान ले तो दूर कर सकता है। संसार कहाँ है, उसका यथार्थ स्वरूप क्या है, उसे जाने बिना संसार को दूर करने का सच्चा उपाय नहीं कर सकता।

उसीप्रकार संसार आत्मा में है और मानता है जड़ में; यदि जड़ में आत्मा का संसार मानेगा तो उसे दूर करने का प्रयत्न भी जड़ में करेगा, उसका संसार कभी दूर ही कैसे हो सकता है ?

संसारतत्त्व का मुख्य स्वामी कौन है ? वह यहाँ कहते हैं ? जो तत्त्व की अयथार्थ श्रद्धा करता है – ऐसा द्रव्यलिंगी मुनि, संसारतत्त्व का स्वामी है। सामान्यत: तो सभी मिथ्यादृष्टि जीव संसारतत्त्व ही हैं, लेकिन यहाँ संसार के मुख्य नायक के रूप में द्रव्यलिंगी जैन साधु को सिद्ध करना है। जैन संप्रदाय में रहकर द्रव्यलिंगी साधु होकर ऐसा माने कि 'आत्मा परजीवों को बचा सकता है,

आत्मा परजीवों को मार सकता है, आत्मा, जड़ की क्रिया कर सकता है; व्यवहार के आश्रय से आत्मा का कल्याण होता है; निमित्त से आत्मा को लाभ-हानि होते हैं अथवा पर की दया आदि शुभ परिणामों से धर्म होता है' - तो ऐसी मान्यतावाला, वह जीवतत्त्व की विपरीत श्रद्धा करनेवाला मोह मल से मलिन, संसार में भ्रमण करनेवाला संसारतत्त्व है।

आत्मा पर की अवस्था करता है - ऐसा माननेवाला भले ही पंच महाव्रत का पालक द्रव्यलिंगी जैन साधु हो, तथापि मिथ्यादृष्टि संसारतत्त्व ही है। किसी को बाहर से ऐसा लगे कि इतना सब किया, इसलिए वह संसारतत्त्व से बाहर निकल गया होगा। तो ऐसा कदापि नहीं है, जो दशा अनादि से चली आ रही है, वही दशा है। जिसप्रकार निगोद का जीव संसारी है; उसी प्रकार वह विपरीत श्रद्धा की पुष्टि करनेवाला द्रव्यलिंगी भी संसारी ही है, संसारतत्त्व की अपेक्षा से वे दोनों समान हैं। जगत के अन्य जीव ईश्वर को जगतकर्ता माननेवाले आदि तो मिथ्यादृष्टि हैं, वे तो संसारतत्त्व हैं ही, किंतु जैन संप्रदाय में स्थित द्रव्यलिंगी भी, पुण्य-पाप दोनों को बंधन न मानकर पुण्य से धर्म माने या ऐसा माने कि आत्मा पर का कार्य करता है - तो वह भी स्वयं अविवेक से तत्त्व की विपरीत श्रद्धा करनेवाला संसारतत्त्व ही है।

दयादि भाव पुण्यतत्त्व हैं, हिंसादि भाव पापतत्त्व हैं और शरीरादि अजीवतत्त्व हैं, उनमें कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा परपदार्थों से त्रिकाल भिन्न होने पर भी जो 'आत्मा पर का करता है और यदि परपदार्थ अनुकूल तो आत्मा को ठीक रहे' - ऐसी विपरीत श्रद्धा से, तत्त्व को - 'ऐसा ही है' - इसप्रकार विपरीत निश्चित करते हुए नित्य अज्ञानी हैं, वे द्रव्यलिंगी साधु हों, तथापि संसारतत्त्व हैं, द्रव्यलिंगी उसी को कहा जाता है, जो बाह्य में बिलकुल नग्न दिगम्बर हो और पंच महाव्रत का अतिचाररहित पालन करता हो, दूसरों को तो द्रव्यलिंगी भी नहीं कहा जा सकता। आचार्यदेव कहते हैं कि उस जीव ने - 'यह ऐसा ही है' - इसप्रकार विपरीत श्रद्धा से तत्त्व को निश्चित कर रखा है, इसलिए यदि कोई सीधा-सच्चा कहनेवाला मिले तो भी उसने उसे समझने का अवकाश नहीं रखा है। आत्मा की यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकत्व करना चाहिए, उसके बदले वह विपरीत

श्रद्धावाला जीव अज्ञान के कारण आत्मा में निरंतर मोह को एकत्रित करता है - ऐसे जीव भले ही द्रव्यलिंगी हो गये हों, तथापि उन्होंने आत्मा में सच्ची मुनिदशा प्रगट नहीं की है, इससे वे श्रमण नहीं, किन्तु श्रमणाभास हैं, उनकी परिणति आत्मा में स्थिर नहीं होती, किन्तु अनंत कर्मफल के उपयोग से भयंकर अनंतकाल तक अनंत भावांतररूप परावर्तन द्वारा वे अनवस्थित वृत्तिवाले रहते हैं, इससे उन विपरीतश्रद्धावाले श्रमणाभास द्रव्यलिंगीयों को संसारतत्त्व ही जानना चाहिए।

यहाँ द्रव्यलिंगी को संसारतत्त्व कहा, इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मिथ्यादृष्टि गृहस्थ संसारतत्त्व से बाहर रह जाते हैं। यहाँ उत्कृष्ट बात की है, इससे द्रव्यलिंगी साधु को संसारतत्त्व कहा है, वहाँ उनसे नीचेवाले अज्ञानी अर्थात् मिथ्यादृष्टि गृहस्थ आदि तो उसके पेटे में आ ही जाते हैं। पंचमहाव्रतों का पालन करनेवाले मिथ्यादृष्टि साधु को भी जहाँ संसारतत्त्व कहा है, वहाँ मिथ्यादृष्टि गृहस्थ की तो बात ही क्या ? वह तो संसारतत्त्व है ही।

मैं ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हूँ, राग का एक अंश भी मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं है - ऐसा भान जिसने अंतर में प्रगट नहीं किया है और बाह्य में नग्न दिगंबर द्रव्यलिंगी हो गया है तथा पुण्यादि में धर्म मानता है तो वह भी अनंत संसार में परिभ्रमण करता है। द्रव्यलिंगी कहीं किसी को मोक्ष प्राप्त नहीं करा देता। द्रव्यलिंगी उसे कहा जाता है कि जिसके वस्त्रादि रहित नग्न दिगम्बर शरीर हो, मंद कषाय हो, पंच महाव्रत हों, परन्तु आत्मा का अनुभव न हुआ हो। जो जीव पुण्य-पाप में धर्म मानता हो, शरीर की क्रिया से आत्मा को लाभ-हानि मानता हो, वह द्रव्यलिंगी हो, तथापि नित्य अज्ञानी वर्तता हुआ अनंत संसार में भटकनेवाला संसारतत्त्व ही है। 'द्रव्यलिंगी हो तथापि' ऐसा कहने से अन्य विपरीत श्रद्धावाले तो उसमें आ ही गये।

देखो, विपरीत श्रद्धावाले जीव कैसे होते हैं और सच्ची श्रद्धावाले कैसे होते हैं, उसका विवेक करके, अपने भाव में से विपरीत श्रद्धा का पोषण छोड़ने की यह बात है। जो सर्वज्ञदेव को व्यवहार से भी नहीं मानते और उनके कहे हुए नवतत्त्वों की व्यवहार से भी जिन्हें खबर नहीं है, उनकी बात तो दूर रही, किन्तु यथार्थ जैन संप्रदाय में आकर भी जिसे आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है और

विपरीत तत्त्वश्रद्धा का सेवन करता है, वह भी अनंत संसार में परिभ्रमण करनेवाला है।

जो, सब मिलकर एक आत्मा मानते हैं अथवा आत्मा को एकान्त कूटस्थ या एकान्त क्षणिक मानते हैं – ऐसों की तो यहाँ बात ही नहीं की है, किन्तु व्यवहार से जैनसंप्रदाय में आया है, उसकी बात है। जीव-अजीवादि नवतत्त्वों को स्वीकार करता हो, जैनसंप्रदाय में रहकर द्रव्यलिंगी त्यागी होकर व्रत पालता हो, किन्तु पुण्य से धर्म होता है – इसप्रकार तत्त्व को विपरीत मानता हो तो वह भी नित्य अज्ञानी वर्तता हुआ अनंत संसार में भ्रमण करता है, व्रत-उपवासादि करने पर भी वह आत्मा के यथार्थ ज्ञान से रहित मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। अंतर में जिसे आत्मा का अनुभव नहीं हुआ है और बाह्य में श्रमणपने का द्रव्यलिंग धारण तो कर लिया है, किन्तु अंतर में तो विपरीत श्रद्धा का पोषण करता है, वह परमार्थश्रामण्य को प्राप्त नहीं हुआ है, उसने साधुदशा का भाव प्रगट नहीं किया है, इससे वह श्रमण नहीं, किन्तु द्रव्यलिंग में अर्थात् बाह्य साधु के वेष में वर्तता हुआ श्रमणाभास है। दिगम्बर द्रव्यलिंगी मुनि के अतिरिक्त दूसरा साधु का बाह्य वेष भी नहीं है। द्रव्यलिंगी के वेष में रहकर ऐसा मानता है कि – 'मैं श्रमण हूँ और नवतत्त्वों की यथार्थ पहिचान नहीं करता, वह नट के वेष जैसा श्रमणाभासी है। जैसे कोई नट बाह्य से तो राजा का वेष धारण करे और राजा जैसा दिखाई दे, लेकिन वास्तव में वह राजा नहीं है, उसीप्रकार विपरीत श्रद्धावाला जीव बाह्य से द्रव्यलिंगी होकर पंचमहाव्रत का पालन करता हो तो वह बाह्य में श्रमण जैसा लगता है, लेकिन वह सच्चा श्रमण नहीं है, वैसों को यहाँ संसारतत्त्व कहा है।

धर्मात्मा जीव को तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा होती है। मैं शुद्ध ज्ञाता हूँ – ऐसा वह स्वीकार करता है। जिन्हें अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव प्रगट हुआ है – ऐसे धर्मी गृहस्थ भी मोक्ष के साधक हैं और अज्ञानी द्रव्यलिंगी हुआ हो, तथापि वह संसार का ही साधक है। आचार्यदेव ने संसारतत्त्व में साधारण गृहस्थ की बात मुख्यरूप से न लेकर द्रव्यलिंगी की बात मुख्य ली है, क्योंकि वह अन्य अज्ञानी जीवों को संसार में भटकने में निमित्त है, विपरीत उपदेश से वह जगत के जीवों को मिथ्यामार्ग पर लगाने में निमित्त होता है। घरबार छोड़कर जंगल में जाकर एकांत

गुफा में पद्मासन लगाकर बैठा हो और 'इस शरीर को स्थिर रखने की क्रिया मैं करता हूँ तथा इससे मुझे लाभ होता है' – ऐसा मानता हो तो वह प्रतिक्षण मिथ्याश्रद्धा के सेवन द्वारा संसार की वृद्धि कर रहा है।

कर्मों के उदय के कारण जीव को विपरीत श्रद्धा होती है – ऐसी बात नहीं है, परन्तु जीव स्वयं अविवेक से पदार्थों की अयथार्थ श्रद्धा करता है। पदार्थों के स्वरूप की विपरीत श्रद्धा करके बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म माने-मनाये, वह जीव वर्तमान में तो मिथ्याभाव का पोषण करता है और उस विपरीत भाव के सेवन से भविष्य में भी अनंत कर्मफल की उपभोगराशि से भयंकर अनंतकाल तक विकार में भावांतररूप परावर्तन उसे होते ही रहते हैं, इससे उसकी परिणति सदैव अस्थिर रहा करती है, किन्तु आत्मा में कभी स्थिर नहीं होती – इससे वही संसारतत्त्व है। संसारतत्त्व का संसरण बतलाने के लिए भावांतररूप परावर्तन की बात ली है। मिथ्याश्रद्धा वाला जीव किसी भावरूप से स्थिर नहीं रहता, किन्तु विकारी भावों में प्रतिक्षण उसका परिवर्तन होता रहता है, इसलिए वही संसारतत्त्व है, ऐसा जानना चाहिए।

तत्त्व से विरुद्ध श्रद्धा का भाव करके आत्मा विकारभाव में परिवर्तित होता रहता है, उसका नाम संसारतत्त्व है। विकारपर्याय आत्मा में होती है, विकार का कर्ता आत्मा है – ऐसा यहाँ बतलाया है। यहाँ अज्ञानी की बात है, अज्ञानी विकार का कर्ता होता है। और आत्मा पुण्य-पाप का ज्ञाता-दृष्टा है, वह विकार का कर्ता नहीं है – ऐसा समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार की में कहा है, वहाँ धर्मात्मा की बात है। शुद्धात्मस्वभाव की दृष्टिवाला धर्मी जीव विकार का कर्ता नहीं होता। यहाँ संसारतत्त्व का वर्णन है – इससे ऐसा बतलाया है कि अधर्मी जीव स्वयं विकारभावरूप परिणमित होता है। अधर्मी का अधर्म भाव अर्थात् संसार उसकी अवस्था में होता है, जड़ में नहीं होता।

यदि बाह्य वस्तुओं में आत्मा का संसार हो तो उन्हें छोड़कर मरते समय आत्मा की मुक्ति हो जाना चाहिए। इसलिए बाह्य वस्तुओं में आत्मा का संसार नहीं है। 'मैं पर की व्यवस्था बराबर रखता हूँ; मैं हूँ, इसलिए पर के कार्य होते हैं; मेरे अच्छे उपदेश के प्रभाव से मेरे अनेक शिष्य हो जाते हैं, यानी मेरे उपदेश का

प्रभाव दूसरों पर पड़ता है - ऐसा माननेवाले सभी मिथ्यादृष्टि संसार में भटकनेवाले हैं।' विपरीत मान्यतावाले द्रव्यलिंगी साधु स्वयं संसारतत्त्व हैं और उन साधुओं को गुरुरूप से मानकर विपरीत मान्यता की पुष्टि करनेवाले श्रावक गृहस्थ भी संसारतत्त्व हैं, विपरीत भाव से वे जीव भविष्य में अनंत संसार में परिभ्रमण करेंगे और सीधी-सच्ची श्रद्धावाले जीवों का अल्पकाल में संसार का अन्त आ जायेगा।

संसार आत्मा की दशा में है, वह एक समयपर्यंत का विकार है। उसे छोड़ने के लिए विकार रहित वस्तुस्वभाव की-चैतन्यमूर्ति आत्मा की दृष्टि करना चाहिए, उसके बदले बाह्य वस्तुओं को छोड़ने से संसार छूटता है - ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, वह कभी बाह्य दृष्टि छोड़कर अंतरस्वभावोन्मुख नहीं होता और न उसका संसार दूर होता है। 'तत्त्वनिर्णय का क्या काम है ? अन्त में तो राग-द्वेष ही कम करना है न ? इसलिए राग-द्वेष कम करने में लगो, और राग-द्वेष को कम करने के लिए बाह्य वस्तुओं का त्याग करो' - ऐसा मानने और कहनेवाले भले ही त्यागी हों, तथापि मिथ्यादृष्टि हैं, वे संसार में भटकनेवाले हैं। बाह्य संयोगों को छोड़ने से राग-द्वेष कम नहीं होते, बाह्य संयोगों का त्याग तो अभव्य जीवों ने अनंत बार किया है। तत्त्वनिर्णय करके आत्मस्वभावोन्मुख न हो तो कभी राग-द्वेष दूर हो ही नहीं सकते। इसलिए तत्त्वनिर्णय करके आत्मा के स्वभाव की ओर उन्मुख होना ही संसार को दूर करने का उपाय है। *(क्रमशः)*

पृष्ठ 5 का शेष

मुनिभक्त गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

भगवान वन में अकेले रहते थे, इसलिए दु:खी थे—ऐसा नहीं है। वे तो अन्तर के चैतन्यवन में आत्मा के आनन्द की मस्ती में रहते थे। वास्तव में भगवान वन में रहे ही नहीं, वे तो शरीर में भी नहीं रहते थे, पंच-महाव्रत के शुभराग में भी नहीं रहते थे; वे तो अपने आत्मस्वभाव में रहकर आत्मा के आनन्द में झूलते थे।

सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके भगवान ने दीक्षा ली। इसके पश्चात् आत्मध्यान में लीन होते ही उन्हें मन:पर्ययज्ञान प्रगट हो जाता है।

(राजकोट : वीर सं. 2476, फाल्गुन शुक्ल दशमी, दीक्षा-कल्याणक दिवस)

श्री समयसार नाटक पर

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी का धारावाही प्रवचन

प्रथम प्रवचन

सकल-करम-खल-दलन, कमठ-सठ-पवन कनक-नग।
धवल परम-पद-रमन, जगत-जन-अमल-कमल-खग।।
परमत-जलधर-पवन, सजल-घन-सम-तन समकर।
पर-अघ-रजहर जलद, सकल जन-नत भव-भय-हर।।
जमदलन नरकपद-छयकरन, अगम अतट भवजलतरन।
वर-सबल-मदन-वन-हरदहन, जय जय परम अभयकरन।।2।।

अर्थः- जो संपूर्ण दुष्टकर्मों को नष्ट करने वाले हैं, कमठ की वायु के समक्ष मेरु के समान हैं, अर्थात् कमठ के जीव की चलाई हुई तेज आंधी के उपसर्ग से जो नहीं हिलनेवाले हैं, निर्विकार सिद्धपद में रमण करते हैं, संसारी जीवोंरूप कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं, मिथ्यामतरूपी मेघों को उड़ा देने के लिये प्रचण्ड वायुरूप हैं, जिनका शरीर पानी से भरे हुए मेघ के समान नीलवर्ण है, जो जीवों को समता देनेवाले हैं, अशुभ कर्मों की धूल धोने के लिये मेघ के समान हैं, सम्पूर्ण जीवों के द्वारा वन्दनीय हैं, जन्म-मरण का भय हरनेवाले हैं, जिन्होंने मृत्यु को जीता है, जो नरक गति से बचानेवाले हैं, जो बड़े और गम्भीर संसार सागर से तारनेवाले हैं, अत्यन्त बलवान कामदेव के वन को जलाने के लिए रुद्र की अग्नि के समान हैं, जो जीवों को बिलकुल निडर बनानेवाले हैं; उन (पार्श्वनाथ भगवान) की जय हो!! ।।2 ।।

काव्य - 2 पर प्रवचन

अब यहाँ दूसरी स्तुति प्रारम्भ करते हैं-

पहले भगवान को भी कर्म तो बँधे हुए थे। स्वभाव के भान और आनन्द में लीनता द्वारा भगवान ने उन दुष्ट कर्मों को नष्ट किया है। कमठरूप पवन के सामने भगवान मेरु के समान हैं अर्थात् कमठ के तीव्र उपसर्ग के सामने भगवान सुवर्ण के मेरु के समान अडिग रहे थे। वे किसी के डिगाये डिगे नहीं, हिलाये हिले नहीं; वे तो अपने आनन्द में ही निमग्न थे। अन्तर में अमृतरस के घूँट पीते

थे। यह तो सर्वज्ञ होने से पूर्व की बात है। तब भी भगवान, कमठ के जीव द्वारा चलाई गई उग्र आँधी के उपसर्ग से रंचमात्र चलित नहीं हुए।

अभी तो भगवान निर्विकार सिद्धदशा में रमण करते हैं। धवल अर्थात् विकाररहित निर्मलदशा में प्रभु रमण करते हैं। ऐसे प्रभु संसारी जीवोंरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य समान हैं। जैसे सूर्योदय के साथ ही कमल खिल जाते हैं, वैसे ही भगवान ऐसे थे कि जिन्हें देखते ही और जिनकी वाणी सुनते ही भव्यजीवों के हृदयकमल खिल जाते थे।

यद्यपि इस स्तुति में सब एकाकार होने से भगवान पार्श्वनाथ का नाम नहीं आया है, तथापि यह पार्श्वनाथ की ही स्तुति है।

कैसे हैं भगवान? धवल अर्थात् पवित्र। जो परम पवित्र पद में रमण करनेवाले हैं अर्थात् जो निर्विकार सिद्धपद में रमण करते हैं। सिद्धभगवान, संसारी जीवोंरूपी कमल को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान हैं। जिन्हें पूर्ण पवित्र निर्विकारी चैतन्य-चमत्कारी दशा प्रकट हुई है। वे पर को भी निमित्तरूप से ऐसा कर सकते हैं यह तात्पर्य है। वस्तुतः तो भगवान स्वयं अपना करनेवाले हैं, किन्तु अन्य जीवों के निज हित में निमित्त हैं। इस कारण भगवान को संसारी जीवों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान कहा है।

मिथ्यामतरूपी मेघों को उड़ा देने के लिए भगवान प्रचण्ड वायु के समान हैं। सर्वज्ञ-वीतराग परमदेव ने जो मार्ग दर्शाया, उससे विपरीत मतवालों ने जो एकान्त मत स्थापित किया है, उसे उड़ाने के लिए भगवान प्रचण्ड वायु के समान हैं। भगवान अनेकांत द्वारा एकांत का खण्डन करने में समर्थ हैं।

जिन्हें अमृतस्वरूप वीतरागी समता प्रकट हुई है - ऐसे भगवान अन्य जीवों को भी समता प्रदान करनेवाले हैं। जो समझता है, उसे समता प्राप्त होती है तो भगवान ने प्रदान की ऐसा कहा जाता है। अशुभ कर्मोंरूपी धूल को धोने के लिए भगवान मेघ के समान हैं। जैसे बहुत धूल उड़ती हो, ऐसे समय में वर्षा हो जाए तो सारी धूल जम जाती है; उड़ती नहीं। वैसे ही जो भगवान की वाणी सुनता है, भगवान को पहिचानता है, मानो उसके कर्मों का रस टल जाता है।

जिन्हें समस्त जीव नमन करते हैं। जो जन्म-मरण का भय दूर करनेवाले हैं अर्थात् जो भगवान को पहिचानकर मेरा आत्मा भी ऐसा ही है ऐसा जानता है,

उसके चौरासी के अवतार का अभाव होता है। जन्म-मरण का ही नाश होता है।

जिन्होंने अमृत आनंदस्वरूप प्रकट किया ऐसे भगवान की शरण जो लेता है, उसको फिर नरकगति नहीं मिलती। अगम अर्थात् गंभीर और अतट अर्थात् मोटा, संसाररूपी सागर, उसमें से जीवों को तारनेवाले हैं। कीड़ी, मकौड़ी, कौआ, कुत्ता जैसी अनेक योनियोंवाला यह मोटा, गंभीर संसार-समुद्र उसमें से इन भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई तारणहार नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसा आत्मस्वरूप भगवान ने कहा, वैसा समझे; उसके चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण का अंत आ जाता है; भगवान किसी को तार नहीं देते। अतट अर्थात् जिसका कोई छोर नहीं है ऐसे संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में भगवान निमित्त हैं।

भगवान अत्यन्त बलवान कामदेव के वन को जलाने के लिए रुद्र की अग्नि के समान हैं। सबल मदन अर्थात् उग्र काम-वासना, जिसमें जीव अनादि से जल रहे हैं ऐसी काम-वासना के वन को जलाने के लिए भगवान अग्नि समान हैं। 'जय-जय परम अभय करन' परम अभय-निर्भयता और निडरता के प्रदाता वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की जय हो, जय हो ऐसा कहकर स्तुति और मांगलिक किया है।

जिन्हि के वचन उर धारत जुगल नाग,
भए धरनिंद पदुमावति पलकमैं।
जाकी नाममहिमासौं कुधातु कनक करै,
पारस पखान नामी भयौ है खलकमैं।।
जिन्ह की जनमपुरी-नामके प्रभाव हम,
अपनौ स्वरूप लख्यौ भानुसौ भलकमैं।
तेई प्रभु पारस महारस के दाता अब,
दीजै मोहि साता दृगलीला की ललक मैं।। 3 ।।

अर्थः- जिनकी वाणी हृदय में धारण करके सांप का जोड़ा क्षणभर में धरणेन्द्र-पद्मावती हुआ, जिनके नाम के प्रताप से जगत में पत्थर भी पारस के नाम से प्रसिद्ध है जो लोहे को सोना बना देता है, जिनकी जन्मभूमि के नाम के प्रभाव से हमने अपना आत्मस्वरूप देखा है -मानों सूर्य की ज्योति ही प्रगट हुई है; वे अनुभव-रस का स्वाद देनेवाले पार्श्वनाथ जिनराज अपनी प्यारी चितवन से (दृष्टि से) हमें शान्ति देवें ।।3।।

काव्य – 3 पर प्रवचन

अब तीसरी स्तुति जिसमें पार्श्वनाथ का नाम आयेगा। ये बनारसीदासजी तो कवि हैं न!

जिस समय भगवान पार्श्वनाथ गृहस्थदशा में थे और हाथी पर बैठकर वन–क्रीड़ा हेतु निकले तो वन में अपने नाना जो कि तापस थे, वे यज्ञ में लकड़ी होम कर रहे थे जिनमें एक नाग व नागिन जल रहे थे। उन्हें पार्श्वनाथ ने पंचपरमेष्ठी वाचक 'ॐ' ऐसा शब्द सुनाया और वे दोनों मरकर धरणेन्द्र –पद्मावती नामक भवनवासी देव–देवी हुए। भगवान के वचन–श्रवण से क्षणभर में ही नाग–नागिन मरकर धरणेन्द्र–पद्मावती देव–देवी हुए।

जैसे पारसमणि नामक पत्थर लोहे को सुवर्ण बनाता है यह बात जगत–प्रसिद्ध है; वैसे ही जो भगवान को स्पर्शता–समझता–पहिचानता है; उसे भगवान अपने समान बनाते हैं इस प्रकार भगवान भी जगत में प्रसिद्ध हैं।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिनकी जन्मभूमि के नाम के प्रताप से हमने अपना आत्मस्वरूप देखा, वह कैसा है?मानो कि हमें सूर्य की ज्योति ही प्रकट हुई है। पार्श्वनाथ भगवान की जन्मभूमि 'बनारस' उस पर से इस शरीर का नाम भी बनारसी रखा और इसी भव में हमें चैतन्य ज्योति का अनुभव हुआ। मानो पुण्य–पाप के मैल की आड़ में छुपी हुई चैतन्य सूर्य की ज्योति ही अनुभव में आयी। देखो! यहाँ बनारस में बनारसीदासजी को आत्मानुभव हुआ यह बतलाया है। यद्यपि अनुभव के समय तो बनारसीदासजी गृहस्थदशा में थे। आत्मा का अनुभव करने में स्त्री–पुत्रादि कहाँ बाधक है?आत्मा में लीन होने पर निर्विकल्प शांत आनंद का वेदन होता है। बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा का अनुभव होने का पता कैसे पड़े?यह तो भगवान ही जाने। अरे भाई! अज्ञान मिटकर ज्ञान हो, उसकी खबर कैसे नहीं पड़ेगी। सूर्य की ज्योति के समान पुण्य–पाप के अंधकार से पार चैतन्य–ज्योति का अनुभव होता है। उसकी खबर अवश्य पड़ती है।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिन्होंने हमें अनुभव रस का स्वाद दिया वे प्रभु पारस हमें प्रिय दृष्टि से शान्ति दें। हमारा अनुभव अब पूर्ण हो जावे। "दीजे मोही साता रंगलीला की ललक में" आँख बंद करके खोलें, इतनी देर में अर्थात् क्षणमात्र में हमारा पूर्णानंद प्राप्त हो।

अन्तर में भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप का भान हो, वहाँ जगत में कोई अपना भाषित नहीं होता, पुण्य-पाप भी नहीं दिखते। मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु हूँ। देखो! ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थ को भी होता है और आत्मानुभव विहीन साधु हो तथापि परिभ्रमण का अंत नहीं आता। जागृत होकर देखता नहीं कि मैं कौन हूँ? कैसा हूँ? और वेषधारी होकर रहे, इससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं है।

यहाँ तो बनारसीदासजी भगवान के समक्ष प्रार्थना करते हैं कि हमे आनंद का अनुभव पूर्ण होओ - क्षणभर में शान्ति प्रकट हो जाओ। वस्तुतः प्रार्थना तो आत्मा के समक्ष ही है; परन्तु निमित्त अपेक्षा तो भगवान से की कहलाती है न! किसी को पाँच-पचास लाख रुपये प्राप्त हो जायें तो 'यह तो बड़ी का पुण्य है' -ऐसा विनय से बोला जाता है; उसीप्रकार ये प्रार्थना के वचन विनयपूर्वक भगवान के समीप बोले गये हैं; वस्तुतः न कोई कुछ देता है, न लेता है।

इस प्रकार अरहंत भगवान की स्तुति हुई। **क्रमशः**

पृष्ठ 11 का शेष

चैतन्यभगवान के दर्शन करने....

लिए यह नवतत्त्व की श्रद्धा कार्यकारी है, लेकिन नवतत्त्व तो भेददृष्टि से है, इससे उनके लक्ष्य से परमार्थ सम्यक्त्व नहीं होता। अभेददृष्टि में तो अकेला भूतार्थ आत्मा ही है, उसकी प्रतीति, सो परमार्थ सम्यक्त्व है। जिसे ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए चैतन्योन्मुख होना है, उसे प्रथम ऐसी नवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धारूप आंगन में आना पड़ेगा।

जिसने ऐसा माना है कि पुण्य से धन की प्राप्ति होती है, उसने पुण्य और अजीव को एक माना है तथा धन से धर्म होता है - ऐसा माना उसने धन यानी अजीव को और धर्म अर्थात् संवरतत्त्व को एक माना है और कोई पुण्य से धर्म माने तो उसने भी पुण्य और संवरतत्त्व को एक माना है। वे सब मान्यताएँ मिथ्या हैं। जिसे नवतत्त्वों की श्रद्धा भी यथार्थ नहीं है, उसका तो आंगन भी स्वच्छ नहीं है, वह चैतन्यगृह में प्रविष्ट नहीं हो सकता अर्थात् उसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए नवतत्त्वों को यथावत् मानना चाहिए।

अक्षय तृतीया पर्व पर विशेष

ऋषभमुनि का हस्तिनापुर में प्रथम पारणा

अचिन्त्य महिमावन्त मुनिराज ऋषभदेव का छह मास का ध्यान-योग समाप्त हुआ, तब उन्होंने विचार किया कि बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए इन नवदीक्षित साधुओं को मुनिमार्ग की आहारादि विधियों का ज्ञान न होने से क्षुधा के कारण वे मार्ग भ्रष्ट हो गये। इसलिए मोक्षमार्ग क्या है ? सूखपूर्वक मोक्ष की सिद्धि कैसे होती है और संयम की स्थिति हेतु निर्दोष आहार लेने की विधि क्या है ? वह प्रकट करने की आवश्यकता है। ऐसा विचारकर निर्दोष आहार की प्रवृत्ति हेतु मुनिराज विहार करने लगे।

मुनिराज जहाँ-जहाँ पधारते वहाँ के लोग प्रसन्नता से आश्चर्यचकित होकर नमन करते और पूछते कि हे देव ! कहिये क्या आज्ञा है ? आप जिस कार्य हेतु यहाँ पधारे हैं, वह हमें बतलाइये—आज्ञा दीजिये। अनेक लोग तो हाथी, रथ, वस्त्राभूषण, रत्न तथा भोजनादि सामग्री मुनिराज को अर्पण करने के लिये लाते तो कोई अपनी युवा कन्या मुनिराज से विवाहने की इच्छा प्रकट करते। अरे रे ! कैसा अज्ञान और कैसी मूर्खता, मुनिराज चुपचाप चले जाते। वे किसलिए पधारे हैं और क्या करना चाहिए ? यह नहीं समझ पाने से लोग दिग्मूढ़ होकर कुछ तो अश्रुपूरित नेत्रों से मुनिराज के चरणों में लिपट जाते—इस प्रकार अनेक नगरों तथा ग्रामों में विहार करते-करते छह महीने से अधिक समय निराहार बीत गया।

एक दिन विहार करते हुए मुनिराज ऋषभदेव कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। उस समय वहाँ के राजा सोमप्रभ और उनके लघु-भ्राता श्रेयांसकुमार थे। पूर्व के आठवें भव में आहारदान के समय जो 'श्रीमती' थी, वही यह श्रेयांसकुमार हैं। मुनिराज जिस दिन हस्तिनापुर पधारनेवाले थे, उसी दिन रात्रि के पिछले प्रहर में श्रेयांसकुमार ने पूर्वसंस्कार के बल से, पूर्वसूचनारूप सात उत्तम स्वप्न देखे—ऊँचा सुमेरू पर्वत, सुशोभित कल्पवृक्ष, केसरीसिंह, वृषभ, सूर्य-चन्द्र, रत्नों से भरा समुद्र और अष्टमंगल सहित देव। अपने आँगन में मुनिराज का पदार्पण जिनका मुख्य फल है—ऐसे वे सात मंगलस्वप्न देखकर श्रेयांसकुमार का चित्त अतिप्रसन्न हुआ।

प्रभात होते ही दोनों भाई उस स्वप्न की बात और मुनिराज ऋषभदेव का गुणगान कर रहे थे कि इतने में योगीराज मुनिराज ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। मुनिराज के आगमन से आनन्दित होकर चारों ओर से नगरजनों के समूह मुनिराज के दर्शन करने उमड़ पड़े। भोले-भाले लोग कहते थे कि मुनिराज फिर अपनी रक्षा करने पधारे हैं। 'ऋषभदेव जगत के पितामह हैं' ऐसा सुना था, उन जगतपिता को आज प्रत्यक्ष देखा। मुनिराज के आगमन की बात सुनकर नगरजन भोजनादि कार्य छोड़कर शीघ्रातिशीघ्र दर्शन करने के लिए निकल पड़े। जब सारे नगर में ऐसा हर्षमय कोलाहल हो रहा था, तब भी मुनिराज तो अपने संवेग और वैराग्य की सिद्धि के लिये वैराग्य भावनाओं का चिंतन करते-करते अपनी आत्मा की धुन में लीन होकर चले आ रहे थे। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, ऐसी राग-द्वेषरहित समतावृत्ति को धारण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

मुनिराज ऋषभदेव राजमहल के सामने पधार रहे हैं, यह जानकर 'सिद्धार्थ' नामक द्वारपाल ने तुरंत ही राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांसकुमार को बधाई दी कि मुनिराज ऋषभदेव अपने आँगन की ओर पदार्पण कर रहे हैं।

यह सुनते ही दोनों भाई मंत्री आदि सहित खड़े हुए और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजमहल के प्रांगण में आकर दूर से ही मुनिराज के चरणों में भक्तिभावपूर्वक नमस्कार किया। मुनिराज के पधारते ही सम्मानसहित पादप्रक्षालन करके अर्घ्य चढ़ाकर पूजा और प्रदक्षिणा दी। अहा, अपने आँगन में ऐसे निधान को देखकर उन्हें अति सन्तोष हुआ। मुनिराज के दर्शन से दोनों भाई हर्षोल्लास से रोमांचित हो गये। आनंद एवं भक्ति से नम्रीभूत वे दोनों भाई इन्द्र समान सुशोभित हो रहे थे। जिस प्रकार निषध और नील पर्वतों के बीच उन्नत मेरु पर्वत शोभता है, उसी प्रकार श्रेयांसकुमार और सोमप्रभ के बीच मुनिराज ऋषभदेव शोभायमान हो रहे थे। मुनिराज का रूप देखते ही श्रेयांसकुमार को जातिस्मरण हुआ और पूर्वभव के संस्कार के कारण मुनिराज हो आहारदान देने की बुद्धि प्रकट हुई। पूर्व के वज्रजंघ एवं श्रीमती के भव का सारा वृत्तान्त उन्हें स्मरण हो आया। उस भव में सरोवर के किनारे दो मुनिवरों को आहारदान दिया था, वह याद आया। प्रभात का यह समय मुनियों को आहारदान देने का उत्तम समय है—ऐसा निश्चय करके उन पवित्र बुद्धिमान श्रेयांसकुमार ने ऋषभ मुनिराज को इक्षुरस का आहारदान किया।

इस प्रकार ऋषभ मुनिराज को सर्व प्रथम आहारदान देकर उन्होंने इन चौबीसी में दानतीर्थ का प्रारंभ किया। उन्होंने नवधाभक्ति और श्रद्धादि सात गुणों सहित दान किया। मोक्ष के साधक धर्मात्मा के गुणों के प्रति आदरपूर्वक, श्रद्धासहित जो दाता उत्तम दान देता है, वह मोक्षप्राप्ति के लिए तत्पर रहता है। अतिशय इष्ट एवं सर्वोत्तम पात्र ऐसे मुनिराज को श्रेयांसकुमार ने पूर्वभव के संस्कार से प्रेरित होकर नवधाभक्ति से प्रासुक आहारदान दिया। श्री ऋषभ मुनिराज खड़े-खड़े अपने हाथ में (करपात्र में) ही आहार ले रहे थे। मोक्षमार्ग के साधक मुनिराज को हाथों की अंजुलि में श्रेयांसकुमार आदि ने इक्षुरस का (गन्ने के प्रासुक रस का) आहार दिया। **वह दिन था वैशाख शुक्ला तृतीया (जो बाद में अक्षयतृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ)।**

उस समय देवगुण आकाश से रत्नवृष्टि तथा पुष्पवृष्टि करने लगे। देवों के बाजे गम्भीर नाद से बजने लगे, सुगन्धित वायु बहने लगी और देवगण हर्षित होकर 'धन्य दान... धन्य पात्र... धन्य दाता' ऐसी आकाशवाणी करने लगे। अहा, दान की अनुमोदना करके भी लोग महापुण्य को प्राप्त हुए।

यहाँ कोई आशंका करे कि मात्र अनुमोदना करने से पुण्य की प्राप्ति किस प्रकार होगी ? उसका समाधान यह है कि पुण्य और पाप का बंध होने में मात्र जीव के परिणाम ही कारण हैं; बाह्य कारणों को तो जिनेन्द्रदेव ने 'कारण का कारण' (अर्थात् निमित्त) कहा है। जब पुण्य के साधनरूप से जीवों के शुभ परिणाम ही प्रधान कारण हैं, तब शुभ कार्य की अनुमोदना करनेवाले जीवों को भी उस शुभ-फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

रत्नत्रयधारी मुनिराज अपने गृह में पधारे और उन्हें आहारदान दिया, उससे दोनों भाई परम हर्षित हुए और अपने को कृतकृत्य मानने लगे। इस प्रकार मुनियों को आहारदान की विधि प्रसिद्ध करके तथा दोनों भाईयों को प्रसन्न करके मुनिराज पुनः वन की ओर चल दिए। कुछ दूर तक दोनों भाई भक्ति-भीगे चित्त से मुनिराज के पीछे-पीछे गये और फिर रुकते-रुकते लौटने लगे। दोनों भाई बारम्बार मुड़-मुड़कर निरपेक्षरूप से वन की ओर जाते हुए मुनिराज को पुनः-पुनः देख रहे थे। वे दूर तक जाते हुए मुनिराज की ओर लगी हुई अपनी दृष्टि को

तथा चित्तवृत्ति को मोड़ नहीं पाये। वे बारम्बार मुनिराज की कथा एवं उनके गुणों की स्तुति कर रहे थे और धरती पर पड़े हुए मुनिराज के चरण चिह्नों को बारम्बार प्रेम से निहारकर नमस्कार करते थे। नगरजन इन दोनों भाइयों को देखकर कहते कि राजा सोमप्रभ महाभाग्यवान हैं कि उन्हें ऐसा श्रेष्ठ भाई मिला है। रत्नवृष्टि से चारों ओर बिखरे पड़े रत्नों को नगरजन इकट्ठे कर रहे थे। रत्नरूपी पाषाणों से भरे हुए आँगन को कठिनाई से पार करते हुए दोनों भाई राजमहल में आये।

मुनिराज ऋषभदेव को प्रथम आहारदान (पारणा) कराने से श्रेयांसकुमार का यश सारे जगत में फैल गया। मुनि को दान देने की विधि सर्व प्रथम राजा श्रेयांस ने जानी थी, तभी से दानमार्ग का प्रारम्भ हुआ। आहारदान की यह बात जानकर राजा भरत आदि को भी महान आश्चर्य हुआ; वे आश्चर्य से सोचने लगे कि मौन धारण किये हुए मुनिराज का अभिप्राय उन्होंने कैसे जान लिया? देवों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ और आनंदित होकर उन्होंने श्रेयांसकुमार का सम्मान किया। महाराज भरत ने भी स्वयं अयोध्या से हस्तिनापुर आकर श्रेयांसकुमार का सम्मान किया और अतिशय हर्ष व्यक्त करते हुए पूछा कि हे महादानपति! यह तो बतलाइये कि मुनिराज के मन की बात आपने कैसे जान ली? इस भरतक्षेत्र में पहले कभी नहीं देखी गई ऐसी यह दान की विधि आपने न बतलायी होती तो कौन जान पाता? हे कुरुराज! आज आप हमारे लिए गुरु समान पूज्य बने हैं, आप दानतीर्थ के प्रवर्तक हैं, महापुण्यवान हैं; इस दान की पूरी बात हमें बतलाइये।

श्रेयांसकुमार कहने लगे—हे राजन्! यह सब मैंने उस पूर्वभव के स्मरण से जाना, जब मैं मुनिराज के साथ था। जिस प्रकार रोग दूर करनेवाली उत्तम औषधि प्राप्त करके मनुष्य प्रसन्न होता है और तृषातुर व्यक्ति पानी से भरा हुआ सरोवर देखकर आनंदित होता है, उसी प्रकार मुनिराज का उत्कृष्ट रूप देखकर मैं अत्यन्त हर्ष-विभोर हो गया था और उसी समय मुझे जातिस्मरण होने से मैंने मुनिराज का अभिप्राय जान लिया। पूर्व के आठवें भव में जब मुनिराज विदेहक्षेत्र में पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रजंघ राजा थे, तब मैं उनकी श्रीमती नामक रानी थी और तब राजा के साथ मैंने दो चारणऋद्धिधारी मुनियों को आहारदान दिया था; उन संस्कारों का स्मरण होने से मैंने आज भी उसी विधि से मुनिराज को

आहारदान दिया। विशुद्धता सहित मुनिवरों को आहारदान देने का अवसर महान भाग्य से प्राप्त होता है।

दान का स्वरूप समझाते हुए श्रेयांसकुमार महाराजा भरत से कहते हैं कि स्व-पर के उपकार हेतु मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक अपनी वस्तु योग्य पात्र को सम्मानपूर्वक देना उसे दान कहते हैं। श्रद्धादि गुणों सहित वह दाता है; आहार, औषध, शास्त्र तथा अभय ये चारों वस्तुयें देय (दान में देनेयोग्य) हैं। जो रागादि दोषों से दूर हैं तथा सम्यक्त्वादि गुणों से सहित हैं, वह पात्र ही है। उसमें जो मिथ्यादृष्टि हैं, किंतु व्रत-शीलयुक्त हैं, वह जघन्य पात्र हैं, अव्रती सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र है और व्रत शील सहित सम्यग्दृष्टि वह उत्तम पात्र है।

व्रत-शील से रहित मिथ्यादृष्टि पात्र नहीं, किन्तु अपात्र हैं। मोक्ष के साधक ऐसे उत्तम गुणवान मुनिराज को दिया गया आहारदान अपुनर्भव का (मोक्ष का) कारण होता है। यहाँ जो दिव्य पंचाश्चर्य (रत्नवृष्टि आदि) हुए वे दान की ही महिमा को प्रकट करते हैं। अब मुनिराज ऋषभदेव के तीर्थ में मुनि आदि पात्र सर्वत्र फैल जायेंगे, जहाँ-तहाँ मुनि विचरेंगे; इसलिए हे राजर्षि भरत! दान की विधि जानकर आपको भक्तिपूर्वक उत्तम दान देना चाहिए।

इस प्रकार दान का उपदेश देकर श्रेयांसकुमार ने दान-तीर्थ का प्रवर्तन किया। राजा श्रेयांस के श्रेयकारी वचन सुनकर भरत राजा को अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई और उन्होंने अति हर्षपूर्वक राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांसकुमार का सम्मान किया। पश्चात् परमगुरु ऋषभदेव के गुणों का चिन्तन करते-करते वे अयोध्यापुरी लौटे।

साभार : **चौबीस तीर्थंकर महापुराण**

—: सूचना :—

तीर्थधाम मङ्गलायतन में द्वारा हुए कार्यक्रमों VCD / MP3 को आप द्वारा देख सकते हैं:—

आप Computer में Youtube पर MANGALAYATAN JAIN MANDIR सर्च करे, उसमें तीर्थधाम मङ्गलायतन पंचकल्याणक 2003; मङ्गलायतन विश्वविद्यालय पंच - कल्याणक 2010; मंगल बोधि VCD; मंगल कथा VCD; धन्य मुनिदशा VCD; मङ्गलायतन - एक आह्वान (परिचय); मुनि सुकुमाल कथा; महावीर पूजन आदि आप देख सकते हैं / DOWNLOAD कर सकते हैं।

आचार्यदेव परिचय शृंखला

भगवान आचार्यदेव

श्री शान्त अथवा शान्तिषेण

भगवान आचार्य शान्त अथवा शान्तिषेण का साहित्य में सविशेष उल्लेख है। इनकी उत्प्रेक्षालंकार से युक्त वक्रोक्तियों की प्रशंसा की गई है। बताया है —

शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षा बलान्मनः।
कस्य नोद्घाटितेऽन्वर्थे रमणीयेऽन्वर्थे रमणीयेऽनुरंजयेत्॥

अर्थात् श्री शान्त कवि की वक्रोक्तिरूप रचना रमणीय उत्प्रेक्षाओं के बल से मनोहर अर्थ के प्रकट होने पर किसके मन को अनुरक्त नहीं करती है ?

पुन्नाट संघ की गुर्वावलि अनुसार आप आचार्य जयसेनजी के पूर्व एक भगवान शान्तिषेण आचार्य का नामोल्लेख किया है। आचार्य जिनसेनजी की गुरु परम्परा में नाम आने के कारण आपका समय सातवीं शताब्दी होना चाहिए। हरिवंशपुराण के अन्त में दी हुई प्रशस्ति में विनयन्धर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य, मित्रविरवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिषेण आचार्य हुए। अनन्तर जयसेन, अमितसेन, कीर्तिसेन और जयसेन हुए हैं। स्पष्ट है कि शान्तिषेण अच्छे कवि और दार्शनिक थे।

आपका समय ईस की सातवीं शताब्दी माना जाता है।

आचार्यदेव शान्तिषेण भगवंत को कोटि-कोटि वंदन।

❀ ❀ ❀

भगवान आचार्यदेव

श्री जिनसेनस्वामी (प्रथम)

अन्तर में आत्मस्वभाव की महिमा की प्रचुरता में लवलीन रहते हुए, पुरुषार्थ की कमजोरी से आँख के टिमकार मात्र, स्वरूप से उपयोग बाहर आने पर, करुणा से महान शास्त्रों के रचयिता होने पर भी, स्वयं अपनी महानता के

बारे में कुछ भी नहीं लिखनेवाले व बाह्यरूप से जंगल में रहते आचार्य जिनसेनवामी (प्रथम) पर जैन समाज बहुत आदर से समर्पित है। इस हेतु आपकी अद्वितीय ऐतिहासिक रचना 'हरिवंशपुराण' एक ही पर्याप्त है।

आचार्यवर जिनसेनस्वामी (प्रथम) पुन्नाट संघ के आचार्य थे। 'पुन्नाट' शब्द कर्णाटकी होने से वे दक्षिण प्रांत के होने का अनुमान है। आपके गुरु का नाम कीर्तिषेण था। आपने हरिवंशपुराण में यह रचना कहाँ बैठकर लिखी है, उसका तत्कालीन इतिहास लिखा है, उससे ज्ञात होता है, कि आप विहार प्रिय थे। गिरनार यात्रा हेतु गुजरात राज्य के सौराष्ट्रदेश स्थित सुवर्ण से बढ़नेवाली विपुल लक्ष्मी से संपन्न अत्यंत समृद्ध वर्द्धमानपुरी (वढ़वाण-पूज्य बहिनश्री का जन्मस्थल) आये।—उस वढ़वाण को आपने पावन किया था, क्योंकि आपने इस हरिवंशपुराण का प्रारंभ वढ़वाण के नन्नराज बसदि नाम से प्रसिद्ध पार्श्वनाथ जिनालय में किया था व उसकी पूर्णता गिरनार से आते समय रास्ते में 'दोस्तटिका' के शांतिनाथ भगवान जिनमंदिर में की थी। इतिहासविदों को अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है, कि उस समय 'दोस्तटिका' कि, जो गिरनार जाते समय मार्ग में आता वर्तमान का 'दोत्तड़िड्डु' ही है। उस शास्त्र का अधिकांश भाग 'दोस्तटीका' में रचा गया हो—ऐसा मानना है।

इतिहास से यह भी पता चलता है, कि आप कर्णाटक से अपनी गुरु परम्परा के आचार्य अमितसेनजी के साथ ससंघ गिरनार वंदनार्थ पधारे थे।

कुछ इतिहासकार 'वर्द्धमानपुरी' का होना मध्यप्रदेश के धार जिले के 'बदनावर' को मानते हैं। यदि ऐसा हो तो आपका विहार मालवा के उधर रहा होना माना जाता है, पर वह गिरनार यात्रा के साथ सुसंगत नहीं है। जो भी हो, इतना स्पष्ट है, कि यह ग्रंथ विहारकाल में पार्श्वनाथ जिनमंदिर में रचा गया था। अधिकांश इतिहासकार 'वर्द्धमानपुरी' को सौराष्ट्र का वढ़वाण ही मानते हैं।

आपके साहित्य में आते आचार्यवरों के नाम जैसे आचार्यवर समंतभद्र, सिद्धसेन, देवनंदी (पूज्यपादस्वामी), वज्रसूरि, रविषेण, जटासिंहनंदी, शांत, कुमारसेन आदि पर से प्रतीत होता है, कि आपने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को

बड़े भाव से स्मरण किया है, इससे लगता है कि आप काफी शास्त्रविद् भी थे। साथ-साथ में आपने आचार्यवर वीरसेनस्वामी व जिनसेनस्वामी (द्वितीय) की भी प्रशंसा की है। जो ई.स. 9वीं शती के आचार्य थे। इस पर से ज्ञात होता है कि आपका काल 9वीं शती के पूर्वार्ध तक होने से आप (धवला, जयधवला आदि के रचयिता) आचार्यवर जिनसेनस्वामी व (गुरु की अधूरी टीका को पूर्ण करनेवाले और आदिपुराण के रचयिता) आचार्यवर जिनसेनस्वामी (द्वितीय) के विशाल ज्ञान से भली-भाँति परिचित ही नहीं, पर उनके गहन ज्ञान के यत्किंचित् (चर्या आदि द्वारा) रसास्वादी भी हुए हों। तदुपरांत तत्त्वार्थसूत्र, तिलोयपण्णति, राजवार्तिक आदि शास्त्रों के अनुरूप ही कथन हरिवंशपुराण में होने से आप उन शास्त्रों के पारगामी थे, यह प्रतीत होता है। आपने एक मात्र 'हरिवंशपुराण' ग्रंथ की रचना की है। जो अपने आप में एक अद्वितीय पुराण है।

'हरिवंशपुरण' की रचनाकाल शक संवत् 705 अर्थात् वि.सं. 840 (ई.स. 784) प्राप्त होता है। अत: आप ई.स. 748से 818के आचार्यवर हों, ऐसा इतिहासविदों का मानना है।

हरिवंशपुराण के रचयिता आचार्यदेव जिनसेनस्वामी (प्रथम) को कोटि-कोटि वंदन।

आगामी कार्यक्रम

दशलक्षण महापर्व

प्रतिवर्ष दशलक्षण पर्व तीर्थधाम मङ्गलायतन उत्साहपूर्वक मनाता है इस वर्ष भी 3 सितम्बर 2019 से 12 सितम्बर 2019 तक दशलक्षण में विशिष्ट कार्यक्रम का आयोजन मङ्गलायतन में होंगे जो भी साधर्मी भाई यहाँ रहकर दस दिन तत्त्वज्ञान का लाभ लेना चाहते हैं वो हमें सूचित करें।

सम्पर्कसूत्र : तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़-आगरा राजमार्ग, हनुमान चौकी, सासनी-204216 (हाथरस)

मोबा. 9997996346 (कार्यालय)

उपदेश सिद्धांत रत्नमाला

श्रद्धा बिना जिनदेव का वंदन-पूजन निष्फल

जं तं वंदसि पुज्जसि, वयणं हीलेसि तस्स राएण।
ता कह वंदसि पुज्जसि, जिणवायट्ठियं पि णो मुणसि ॥131॥

भावार्थ - कई अज्ञानी बाहर में तो जिनेन्द्र भगवान की वंदना-पूजा बहुत करते हैं परन्तु उनके वचनों को मानते ही नहीं हैं तो उनका वंदना-पूजा आदि करना कार्यकारी नहीं है ॥131।

पहिले जिनवचनों को मानो

लोए वि इमं सुणियं, जं आराहिज्जं तं ण कोविज्जो।
मण्णिज्ज तस्स वयणं, जइ इच्छसि इच्छियं काओ॥132॥

भावार्थ - यह बात तो जगत में भी प्रसिद्ध है कि जो राजादि की सेवा करके उनसे किसी फल को चाहता है तो उसे उनकी आज्ञानुसार ही चलना उचित है और यदि उनकी सेवा तो करे और आज्ञा नहीं माने तो उसे किसी फल की प्राप्ति नहीं होती, उल्टे दण्ड ही मिलता है। इसी प्रकार हे भाई! यदि तुम जिनेन्द्र भगवान की भक्ति-पूजा करते हो तो उनकी आज्ञा को प्रमाण करो। भगवान की वाणी में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि 'जो राग-द्वेष सहित क्षेत्रपाल आदि हैं, वे कुदेव हैं और परिग्रहधारी विषयाभिलाषी आदि हैं, वे कुगुरु हैं उन्हें सुदेव व सुगुरु नहीं मानो।' यदि तुम भगवान की आज्ञा को सत्य मानकर उसको प्रमाण नहीं करोगे तो उनकी आराधना का फल जो मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना है, वह तुम्हें कदापि नहीं मिलेगा ॥132॥

आज भी जो सम्यक्त्व में अडिग हैं, वे धन्य हैं

दूसम दण्डे लोए, दुक्खं सिट्ठम्मि दुट्ठ उदयम्मि।
धण्णाण जाण ण चलइ, सम्मत्तं ताण पणमामि॥133॥

भावार्थ - इस निकृष्ट काल में सम्यक्त्व बिगड़ने के अनेक कारण बन रहे हैं तो भी जो सम्यक्त्व से चलायमान नहीं होते वे पुरुष धन्य हैं ॥133॥

अब आगे सुगुरु की परीक्षा करने का उपाय बताते हैं:—

गुरु को परीक्षा करके जान

णियमइ अणुसारेण, ववहारणयेण समय सुद्धीए।
कालक्खेत्तणुमाणे, परिक्खओ जाणिओ सुगुरु ॥134॥

भावार्थ - रत्नत्रय का साधकपना साधु का लक्षण है सो निश्चय दृष्टि से अन्तरंग तो दिखाई नहीं देता परन्तु व्यवहारनय से सिद्धान्त में जो महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण रूप आचरण बताया है, उससे परीक्षा करके जानना चाहिए कि वह इनमें है या नहीं ? यदि वे अट्ठाईस मूलगुण उनमें हों तो वे गुरु हैं और यदि उनमें न हों तो कुगुरु हैं तथा इस बात का भी विचार करना चाहिए कि ऐसे क्षेत्र-काल में गुरुओं का आचरण हो सकता है और ऐसे क्षेत्र-काल में नहीं। ऐसा विचारकर फिर गुरुओं के योग्य क्षेत्र-काल में पाँच महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण जिनमें दिखाई दें वे गुरु हैं और जो गुरु के योग्य क्षेत्र-काल न हो वहाँ स्थित हों तथा पाँच महाव्रतादि जिनमें पाये न जाएं और फिर भी अपने को गुरु माने तो वे कुगुरु हैं-ऐसा जानना ॥134॥

शुद्ध गुरु की प्राप्ति सहज नहीं

तह वि हु णिय जडयाए, कम्म गुरु तस्स णेव वीससिमो।
धण्णाण कयत्थाणं, सुद्धगुरु मिलइ पुण्णेण॥135॥

भावार्थ - सच्चे गुरु की प्राप्ति सहज नहीं है। जिसकी भली होनहार हो, उसे ही सच्चे गुरु की प्राप्ति होती है, हम अज्ञानी भाग्यहीनों को गुरु की प्राप्ति व निश्चय कैसे हो-इस प्रकार अपनी निन्दापूर्वक गुरु के उत्कृष्टपने की भावना यहाँ भायी है ॥135॥

सच्चा गुरु ही मेरा शरण है

अहवं पुण्णो अणुत्तो, ताजइ पत्तो चरण पत्तोय।
तह वि हु सो मह सरणं, संपइ जो जुगपहाण गुरु ॥136॥

अर्थ - जो गुरु पुण्यवान हो, वचन से जिसकी महिमा कही न जा सके, जो त्यागीपने को प्राप्त हुआ हो एवं चारित्र सहित हो-ऐसे गुरु की मुझे शरण संपादन करनेयोग्य है अर्थात् वह गुरु ही मेरा शरण है, जो युगप्रधान हो ॥136॥

साभार : उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला

समाचार-सार

भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन का
17वाँ साक्षात्कार शिविर सम्पन्न

तीर्थधाम मङ्गलायतन : यहाँ संचालित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन का नवीन प्रवेशार्थियों के प्रवेश हेतु 17वाँ साक्षात्कार शिविर दिनांक 03 अप्रेल 2019 से 07 अप्रेल 2019 तक सम्पन्न हुआ। जिसमें बांकानेर गुजरात से पधारे पण्डित सुभाषचन्द सेठ; डॉ. योगेश जैन, अलीगंज; श्री पारस जैन, पूना; पण्डित अशोक लुहाड़िया, पण्डित सचिन जैन, मङ्गलायतन आदि महानुभावों की उपस्थिति में कार्यक्रम सम्पन्न हुए। पण्डित सुभाषभाई सेठ - बाल कक्षाओं एवं स्वाध्याय का लाभ पंच परावर्तन, मनुष्य भव की दुर्लभता, प्रवचनसार की चरणानुयोग सूचक चूलिका आदि विषयों पर लाभ प्राप्त हुआ।

कार्यक्रम के प्रथम दिन अध्यक्ष श्री अजितप्रसाद जैन दिल्ली; श्री मुकेश जैन, अलीगढ़; श्री विशाल जैन, मेरठ आदि महानुभाव उद्घाटन सभा में मंचासीन थे। शिविर की उपयोगिता-साक्षात्कार शिविर की प्रक्रिया सम्बन्धी उद्बोधन एवं औपचारिक उद्घाटन कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

प्रवेशार्थी शिविर में कुल 52 प्रवेश फार्म प्राप्त हुए जिसमें उपस्थित 40 हुए। इन छात्रों में से सोलह मङ्गलार्थी छात्रों का चयन किया गया। शिविर के मध्य में अखिल भारतीय जैन महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मलकुमार सेठी एवं प्रसिद्ध चित्रकार श्री फकीरचन्दजी परीड़ा भी पधारे, जिनका परिचय पण्डित अशोक लुहाड़िया द्वारा और स्वागत पण्डित सुधीर शास्त्री द्वारा किया गया।

इसी अवसर पर भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन में संचालित धार्मिक परीक्षा का वार्षिक परिणाम प्राचार्य डॉ. सचिन्द्र शास्त्री द्वारा सुनाया गया।

अन्तिम दिन 07 अप्रेल को श्री रोमेश जैन, बिलासपुर, श्री वीरेन्द्र जैन फरीदाबाद, पण्डित सुधीरजी शास्त्री आदि के द्वारा शिविर का समापन सानन्द हुआ।

तीर्थधाम मङ्गलायतन में
महावीर जयन्ती पर गोष्ठी संपन्न

तीर्थधाम मङ्गलायतन : भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के मङ्गलार्थी छात्रों द्वारा भगवान महावीर के पूर्व भवों एवं वर्तमान भव और वर्तमान में महावीर भगवान के सिद्धान्तों की उपयोगिता को लेकर गोष्ठी आयोजित की गयी। जिसमें सभी वक्ताओं ने

सारगर्भित आगम के परिप्रेक्ष्य में अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया। इसकी अध्यक्षता बालब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन एवं विशिष्ट अतिथि श्री वैभव जैन मुम्बई, पण्डित अशोक लुहाड़िया, पण्डित सुधीर शास्त्री, प्राचार्य डॉ. सचिन्द्र शास्त्री उपस्थित थे।

तीर्थधाम मङ्गलायतन में तत्त्व प्रभावना

तीर्थधाम मङ्गलायतन : बालब्रह्मचारी कल्पनाबेन का प्रवास वर्तमान में तीर्थधाम मङ्गलायतन में चल रहा है। उनके द्वारा ग्रंथाधिराज समयसार की कक्षा एवं दोपहर में प्रवचनसार, सायंकालीन सर्वार्थसिद्धि का लाभ आदिनाथ विद्यानिकेतन के मङ्गलार्थी छात्रों को मिल रहा है। इसी शृंखला में 28 अप्रेल से 01 मई तक बालब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी द्वारा बच्चों की कक्षा ली गयी।

भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के

नवीन प्रवेशार्थियों की सोनगढ़ यात्रा

तीर्थधाम मङ्गलायतन : प्रति वर्ष की भाँति इस वर्ष भी दिनांक 21 जून से 26 जून 2019 तक भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के नये प्रवेशार्थी (कक्षा 8) गुरुदेवश्री के तत्त्वज्ञान से परिचय हेतु एवं आध्यात्मिक वातावरण में प्रवेश हेतु इस यात्रा का संचालन किया जावेगा।

15वाँ सामूहिक जैन बाल संस्कार शिक्षण शिविर का आयोजन

भिण्ड : गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावनायोग में बालब्रह्मचारी पण्डित रविन्द्रजी 'आत्मन' की प्रेरणा से एवं बालब्रह्मचारी पण्डित सुमतप्रकाशजी के सान्निध्य व निर्देशन में श्री कुन्दकुन्द स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, भिण्ड तथा अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन शाखा-देवनगर, भिण्ड के तत्त्वावधान में 15वाँ सामूहिक जैन बाल संस्कार शिक्षण शिविर का आयोजन दिनांक 7 जून 2019 से 16 जून 2019 तक किया जा रहा है। इन शिविरों का विभिन्न 101 स्थानों पर शिविर लगाये जावेंगे।

वैराग्य समाचार

कोटा : श्रीमती प्रेमलताजी चांदवाड धर्मपत्नी श्री कैलाशचन्द चांदवाड़, मातुश्री शैलेन्द्रजी चाँदवाड का देहावसान अत्यन्त शान्तपरिणामोंपूर्वक हो गया। ज्ञात हो कि आप मङ्गलार्थी चिराग एवं ईशान की दादी थी।

दिवंगत आत्मा शीघ्र ही मोक्षमार्ग प्रशस्त कर अभ्युदय को प्राप्त हों - ऐसी भावना मङ्गलायतन परिवार व्यक्त करता है।

साक्षात्कार शिविर के मध्य पधारे श्री निर्मलचन्द सेठी एवं श्री फकीरचन्द परीड़ा के स्वागत की झलकियाँ

स्वाध्याय का लाभ लेते हुए नवीन प्रवेशार्थी बच्चे

36 प्रकाशन तिथि - 14 मई 2019 पोस्ट प्रेषण तिथि - 16-18 मई 2019
Regn. No. : DELBIL / 2001/4685 Postal regn. No. : A.L.G. / 29 / 2018-20

ज्ञान वैराग्य शक्ति से युक्त मुनिदशा

छठवें गुणस्थान में मुनिराज को देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति, विनय इत्यादि के उपरान्त पञ्च महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि का विकल्प तथा तद्नुरूप प्रवर्तन होता है किन्तु किसी भी संयोग में चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान में वर्तनेवाले समकिती की ज्ञान-वैराग्य-शक्ति कोई अलग ही रहती है। समयसार, निर्जरा अधिकार में कहा है कि भगवान ज्ञायक का यथार्थ ग्रहण, वह ज्ञान है और रागादि का अभाव वह वैराग्य है। अहो! ज्ञानी की यह ज्ञान-वैराग्यधारा कोई अलौकिक ही होती है।

(-वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 200)

पं. सं. : DELBIL/2001/4685
स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक पवन जैन द्वारा **मङ्गलायतन** मुद्रणालय, आगरा रोड, अलीगढ़-202001 छपवाकर, 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़-202001 से प्रकाशित। सम्पादक : डॉ. सचिन्द्र शास्त्री, मङ्गलायतन।

मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, हरिनगर, आगरारोड, अलीगढ़-202001 (उ.प्र.)
Shri Adinath-Kundkund-Kahan Digamber Jain Trust
Harinagar, Agra Road, Aligarh-202001 (U.P.)
Ph. : 9997996346, 2410010/10; Fax : 2410019/22
info@mangalayatan.com www.mangalayatan.com